अनंत के पथ पर

श्री हरिकृष्ण "प्रेमी"

प्रकाशक
भारती प्रिंटिंग प्रेस
लाहौर

प्रकाशक
भारती प्रिंटिंग प्रेस
लाहौर

मूल्य १)

मुद्रक
पं० मायाराम लखनपाल
भारती प्रिंटिंग प्रेस
लाहौर

प्रकाशक का वक्तव्य

बहुत दिनों से इच्छा थी कि हिंदी में एक ऐसी प्रकाशन-संस्था का सूत्रपात किया जाय, जो सद्-ग्रंथों के प्रकाशन के साथ-साथ श्रमजीवी लेखकों के हित का अधिक से अधिक ख़याल रक्खे एवं उनकी अधिक से अधिक सेवा करके उन्हें जीवन-संघर्ष में कुछ सहायता पहुंचा सके और जिसका संचालन भी पूंजीपति प्रकाशकों के हाथ में न होकर श्रमजीवी लेखकों ही के हाथ में हो। तात्पर्य यह कि पाठकों और लेखकों की सहायता ही जिसका ध्येय हो और जो पाठकों और लेखकों के बीच में उनके दुख-दर्द से अनभिज्ञ अर्थ-लोलुप प्रकाशिकों की दीवार न खड़ी होने दे।

तदनुसार सन् १९२९ में 'कलाधर-किरण-मंडल' नामक संस्था का ग्वालियर में प्रारंभ किया गया और उसका ध्येय उस समय साधनों की संकुचितता के कारण केवल ललित साहित्य का प्रकाशन ही रखा गया। किंतु, बाद में, परिस्थिति के कुछ अनुकूल और साधनों के कुछ सुलभ हो जाने पर उसका कार्य-क्षेत्र बढ़ा देने की इच्छा हुई। कुछ मित्रों को नाम में भी संकीर्णता का आभास मिला। अतः सन् १९३२ में उसे 'भारती-प्रकाशन-मंदिर' के विकसित रूप में नये सिरे से प्रारंभ किया गया और उसका लक्ष्य केवल ललित साहित्य निकालना ही नहीं वरन् सब प्रकार की सुरुचिपूर्ण, उपयोगी और उत्कृष्ट पुस्तकें प्रकाशित करना निश्चित् किया गया। हिंदी की

निस्वार्थ संस्था 'सस्ता-साहित्य-मण्डल' ने अपने स्वभाविक स्नेह और औदार्य के साथ हमारी पुस्तकों की मोल एजेंसी लेकर हमारे कार्य को बहुत सुगम बना दिया था। किंतु सत्याग्रह आंदोलन में उक्त संस्था को अनेक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं और उसके साथ हमारी योजना 'जादूगरनी' के प्रकाशन के बाद आगे न बढ़ सकी।

अब 'भारती-प्रिंटिंग-प्रेस', लाहौर के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी-रूप में हमारी उसी संस्था को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है। अब हम इस स्थिति में आए हैं कि अपने स्वप्नों को 'सत्य' बना सकें। 'अनंत के पथ पर' हमारी चौथी भेंट है। इसके बाद हम राष्ट्र-भाषा में ऐसा मौलिक-साहित्य प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिस पर राष्ट्र अभिमान कर सके।

सहृदय पाठकों को यह तो बताना न होगा कि 'भारती-प्रिंटिंग प्रेस' उनकी सेवा का लक्ष्य सामने रख कर ही साहित्य-क्षेत्र में आ रहा है और वह केवल उन श्रमजीवी लेखकों की संस्था है, जो एक निश्चित सदुद्देश्य लेकर जीवन-पथ में बढ़ना चाहते हैं।

प्रकाशक

प्रवेश

आज जब मैं 'अनंत के पथ पर' का प्रवेश लिखने बैठा, तो स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं कर सका कि इस पुस्तक को लिखे ६ वर्ष से भी अधिक समय बीत गया है। संसार कहता है, 'समय और पैसा' ये दो बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, और मनुष्य इनके हिसाब में कभी भूल न करे। दुर्भाग्य से मैं इन दोनों की क़द्र न कर सका और इनका हिसाब भी न रख सका। अपरिचित व्यक्तियों की भाँति ये मेरे पास आए हैं और मुझ से आदर सत्कार न पाकर लौट भी गए हैं।

'अनंत के पथ पर' की एक हस्त-लिखित प्रति सन् १६२६ में अजमेर सेंट्रल जेल के 'ए' क्लास के राजनीतिक बंदियों के पढ़ने के लिए मैंने भेजी थी। आज भी 'त्यागभूमि' के संपादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय का यह वाक्य, जो उन्होंने जेल से लिख भेजा था—मुझे याद है--'प्रेमी जी, आपकी 'अनंत के पथ पर' पुस्तक का जेल में गीता की तरह पाठ होता है। इसमें कविता भी है और आध्यात्मिक ज्ञान भी है।' मेरे आदरणीय सगे भाई श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय को मेरी इस पुस्तक पर नाज़ रहा है और उन्होंने झूम-झूम कर इसे पढ़ा है और बहुतों को सुनाया है। मैं उनके उस तन्मय-भाव को देख कर गद्गद होता रहा हूँ।

परिश्रम मेरे पास से होकर नहीं गुज़रा—पांडित्य मुझसे कोसों दूर है। जो कुछ मैं लिख जाता हूँ, उसे जब मैं स्वयं पढ़ता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है, कि यह सब कहां से आया—सांसारिक प्रेम की बात यहाँ नहीं कहता, उसके घात-प्रतिघात मैंने पर्याप्त सहे हैं, और उनसे प्रभावित होकर भी मैंने कविताएं लिखी हैं, किंतु यहां मैं

आध्यात्मिक जगत की बात कर रहा हूँ। वह दुनिया कैसी है—यह न मुझे पुस्तकों से ज्ञात हुआ न व्यक्तिगत साधना से और साधना तो मैं कर ही कहाँ पाया। 'कर्मवीर' के तेजस्वी संपादक पंडित माखन-लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय-आत्मा', मेरे आदरणीय मित्र श्री रामनाथ 'सुमन', बन्धुवर श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' और मान्य बहन कुमारी लज्जावती आदि ने जब मुझ से कहा है कि इस पुस्तक में 'उपनिषदों' की झलक है—अत्यन्त सरल और सरस—तो, मुझे वास्तव में आश्चर्य हुआ है। उपनिषदों की भाषा मैं समझ नहीं सकता।

उपनिषदों में कुछ भी लिखा हो। मुझ मूढ़ को इस बात की जिज्ञासा अवश्य रही है कि यह जानूं कि 'ईश्वर' नाम की चीज़ क्या है? उस समय मैं दो साल का था, जब मेरी जननी मुझे इस पृथ्वी पर पटक कर न जाने किस दुनिया में चली गई। ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया, होश संभालता गया, मेरे हृदय में इस प्रकार की आकांक्षा तीव्र होती गई कि कोई मुझे खूब ही प्यार करे। मेरी इस प्यास को कोई शांत न कर सका।

अनेक निराश क्षणों में मैंने अपने आपको किसी अदृश्य शक्ति के चरणों में समर्पित कर दिया है और उससे मुझे बल प्राप्त हुआ है। घने अन्धकार में, मेरे शून्य जीवन ने बाँह फैला कर, 'महाशून्य' का आलिंगन करना चाहा है। संध्या, उपासना, पूजा और पाठ से मैं सदा ही दूर रहा हूँ, किन्तु किसी 'अदृश्य' की याद में मैं रात-रात भर अश्रु अवश्य बहाता रहा हूँ। तरतीब के साथ, मैंने अपने जीवन में कोई कार्य नहीं किया—उपासना भी नहीं।

वह है या नहीं, यह तो मैं आज भी नहीं जानता। यदि वह नहीं है तो भी मैं उस 'नहीं' को आकार देना चाहता हूँ। मेरी माँ मुझे दो वर्ष का छोड़ कर चली गई थी—तब से आज तक शायद २७ से

अधिक वर्ष बीत गए —मैं तो आज तक यही अनुभव करता हूँ कि मैं वही दो वर्ष का शिशु हूं। मुझे इस कल्पना से सुख मिलता है कि कोई 'अदृश्य' मुझे अपनी गोद में लिए बैठा है। उस समय मुझे माँ का दूध चाहिए था—इस समय भगवान् का प्रेम। वह मुझ में बैठ कर; या मेरे चारों ओर व्याप्त होकर माँ के दूध की तरह, अपना प्रेम पिला रहा है, मेरी यह धारणा, चाहे सच हो चाहे ग़लत मुझे जीवित रहने का बल देती है।

मेरे इस छोटे से जीवन-काल में कई बार ऐसे क्षण आए हैं, जब मुझे अपना अस्तित्व असह्य ज्ञात हुआ है। जब मैं उसे भूल जाता हूँ तो मुझे अपना भार संभालना असंभव हो जाता है और अपने ही हाथ से अपना गला घोंट देने की इच्छा होती है। जब मैं अपने आपको और अपने सुख-दुखों को उसके आँचल में डाल देता हूँ; तो जैसे बिलकुल हलका हो जाता हूँ, फिर मैं सोचता हूँ मुझे कुछ दुख नहीं है—मुझे कोई अभाव नहीं है—मुझे जीना चाहिए—मुझे जीना चाहिए।

इतने वर्षों के बाद भी उन क्षणों की मुझे याद है, जब 'अनंत के पथ पर' लिखने को मैंने कलम उठाई थी। मैं एक तंग कोठरी में बैठा हुआ सोच रहा था—मुझे चाहने वाला इस जगत में कोई नहीं—मुझे चाहने वाला इस दुनिया के पार है। मुझे निराशा और वेदना का भार असह्य हो उठा—उस समय यदि मैं कविता न करता तो शायद आत्म-हत्या करता। दो या तीन दिन मैं लगातार लिखता ही रहा और जब मैंने ये पंक्तियाँ लिखीं—

अपना ही पथ तो मुझको
बन गया अनंत अगम था।
मैं समझ नहीं पाई थी
मुझमें मेरा प्रियतम था।

तो मेरे ऊपर से वेदना का पहाड़ उतर गया। बादलों के बरस चुकने के बाद जैसे आकाश निर्मल होजाता है, वैसे ही मेरा अंत:करण भी हो गया।

यह पुस्तक प्रारंभ से अन्त तक एक ही कल्पना है। ससीम असीम को—या यों कहो आत्मा ब्रह्म को प्राप्त करने को प्रस्थान करती है। मैंने 'आत्मा' की एक स्त्री के रूप में कल्पना की है। वह एक कुटी में बैठी हुई है—संध्या का समय है—आकाश लाल है—धीरे-धीरे तारे चमक उठते हैं। उसका हृदय न जाने क्यों व्याकुल हो उठता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। वह अपनी कुटी छोड़ कर चल पड़ती है। मार्ग में उसे नदी, तालाब, बन उपवन, समाधि, समाधि का दीपक, आदि अनेक वस्तुएं मिलती हैं—वे सब उसे मानों कुछ कह रहे हैं। वह 'मुझे कहाँ जाना है, मुझे कहाँ जाना है' सोचती भटकती रहती है। प्रभात के समय एक नाव लेकर सिंधु में वह पड़ती है। अन्त में उसे ज्ञात होता है कि वह तो इतना दूर नहीं है कि उसे खोजने कहीं जाना पड़े।

यह मैं पहले बता चुका हूं कि 'अनंत के पथ पर' प्रारम्भ से अन्त तक एक ही रचना है, किन्तु जहाँ 'एक भाव—एक विचार' समाप्त होता है वहाँ से नया पृष्ठ प्रारम्भ कर दिया है। मैं समझता हूं जिनके पास लंबी रचना पढ़ने को समय या अभ्यास नहीं, वे इसे टुकड़ों में पढ़ कर भी कुछ पा सकेंगे। मैंने कुछ शब्दों के लिखने में जान बूझ कर भूल की है—जैसे जगत् को जगत, अन्तर् को अन्तर, महान् को महान और वक्ष:स्थल को वक्षस्थल। शब्दों के रूप के प्रति अत्यधिक कठोर रहने वाले पंडित-प्रवर इसके लिये मुझे क्षमा करें।

'प्रेमी'

समर्पण

मान्य भाई गोपीकृष्ण विजयवर्गीय

को

तुम मेरे जीवन-पथ पर दीपक लिये आगे-आगे चल रहे हो।

जब थकान और प्यास से हृदय मूर्छित हो जाता है,

तुम अमृत का प्याला लिये उपस्थित दिखते हो।

मैंने कई बार सोचा है, मैं तुम्हें क्या दूं।

'अनंत के पथ पर'

तुम्हारे ही अन्तःकरण की प्रेरणा है,

इसलिए तुम्हें ही समर्पित है।

हरि

अनंत के पथ पर

संध्या ने नील गगन में
छिड़की है कुंकुम-लाली,
इस उर में, हाय, जगादी
किसकी 'स्मृति' मृदु मतवाली ?

किस लाल-लाल मदिरा से
भर गया हृदय का प्याला ?
जल उठी अचानक जैसे
फिर बुझी बुझाई ज्वाला।

ब्रह्मांड अखिल करता है
नर्तन आँखों में मेरी।
रवि, शशि, तारे देते हैं
मेरे प्राणों में फेरी।

क्या घूम रहा आँखों में
छाया-सा, धुँधलेपन-सा,
विस्मय-सा, कौतूहल-सा,
झिलमिल लघु शारद घन-सा,

जिज्ञासा, गूढ़ पहेली,
कुछ तत्व-ज्ञान, दर्शन-सा,
सुर-धनु, विद्युत, हृत्स्पंदन,
पीड़ा-सा, पागलपन-सा,

कंपन-सा, प्रेम-पुलक-सा,
शुचि प्रणय-ग्रंथि-बंधन-सा,
व्याकुलता, विरह-व्यथा-सा,
मृदु मधुर अधर-चुंबन-सा।

निशि संध्या-पट के पीछे
सुलझाती अलकें काली।
उनको फैलाती आती
बुनती-सी 'तम' की जाली ?

अलकों के कुसुमों से ही
खिलते हैं नभ के तारे।
क्या चमक उठे जीवन के
गत सपने सारे प्यारे ?

४

स्वर्गङ्गा की धारा में
स्मृति के दीपक हैं बहते,
किस मधुर लोक की गाथा
मेरे मानस में कहते ?

इस रत्न-जटित अंबर को
किसने वसुधा पर छाया ?
करुणा की किरणें चमका,
क्यों अपना रूप छिपाया ?

यह हृदय न जाने किसकी
सुधि में बेसुध हो जाता ?
छिप-छिप कर कौन हृदय की
वीणा के तार बजाता ?

क्या जाने नीरव नभ से
किसका आमंत्रण आता ?
उर लक्ष्य-हीन पक्षी-सा
किस ओर उड़ा-सा जाता ?

५

इस 'महाशून्य' में किसका
मैं अनुभव कर मुसकाती ?
मैं अपने ही कल-रव को
क्यों नहीं समझने पाती ?

नभ के 'पर्दे' के पीछे
करता है कौन 'इशारे' ?
सहसा किसने जीवन के
खोले हैं बंधन सारे ?

रुक सकी न इस कुटिया में,
रह सकी न मैं मन मारे।
हो अब प्रवाह ही जीवन,
छूटें सब कूल-किनारे।

जग के सुख-दुख से मेरा
अब टूट चुका है नाता।
पर, समझ नहीं पाई हूँ
है मुझको कौन बुलाता ?

६

किसका अभाव मानस में
सहसा शशि-सा आ चमका ?
है क्या रहस्य, बतला दे
कोई इस अंतर्तम का !

इन सरल तरल नयनों में
किस की उज्ज्वल छवि छाई ?
किसने मेरे प्राणों में
अपनी तसवीर बनाई ?

'जलजात' हृदय का मेरे
कोई 'अज्ञात' खिलाता।
मेरे जीवन के रवि का
कुछ पता नहीं मिल पाता।

संध्या के समय हृदय में
कैसा प्रभात-सा आया?
किसकी किरणों ने छूकर
प्राणों को आज जगाया?

शुचि नाम न जानें किसका
नव-रश्मि नित्य लिख जाती।
वह भाषा मुझे न आती
जो मैं उसको पढ़ पाती।

किस के चरणों पर अविरल
आँखें हैं अर्घ्य चढ़ाती?
किस मादक मोहक छवि के
मैं नित्य गीत हैं गाती?

स्वप्नों में आ, क्यों 'कोई'
चुपचाप चला जाता है !
बुझते 'जीवन-दीपक' को
भर 'स्नेह' जला जाता है !

किस 'महालोक' से आता,
किस महालोक को जाता ?
किस 'स्वर्ण-सदन' में मेरा
रहता है भाग्य-विधाता ?

किसका अदृश्य कर नभ को
प्रति दिन चित्रित कर जाता ?
किसका कर दिन-रजनी का
यह अविरत चक्र चलाता ?

है क्या रहस्य, क्या जाने,
इस विस्तृत अगम गगन का ?
वह मादक देश कहाँ है,
जीवन के 'जीवन-धन' का ?

१०

कैसे यह इतना सोना
इन किरणों में भर आया ?
नित नये रूप सजती है
किस मायावी की माया ?

अस्थिर है इन्द्र-धनुष के
रंगों-सी जग की क्रीड़ा,
क्या इसीलिए, दुनिया में
रहने में होती पीड़ा ?

भूकंप, प्रभंजन, उल्का,
दुख, जरा, मृत्यु, परिवर्तन,
पतझड़, पिशाच-से जग में
करते हैं तांडव नर्तन।

जब सर्वनाश-शर चलता
जग सुमनों-से झड़ जाते।
घायल विहगों से नभ के
तारक-दल भू पर आते।

मिट जाते हैं बुद्बुद्-से
संसार सैकड़ों बन कर।
सुख आते, फिर खोजाते
सुरधनु-से क्षण भर तनकर।

क्या मैं भी झूठा सपना,
क्या मैं हूँ केवल माया?
अपनी आँखों में दिखती
क्यों अपनी कल्पित काया?

मैं किसी कल्प-तरु की हूँ
क्या केवल अस्थिर छाया ?
मैं नहीं जानती जग में,
हूँ मुझे कौन ले आया !

किस 'महाविटप' से झड़कर
यह 'पल्लव' उड़ता फिरता !
क्यों बार-बार 'आँधी' से
ऊपर उड़ नीचे गिरता ?

——

रवि की बुझती किरणों से
क्या मेरा भी है नाता ?
मैं नहीं जानती दिनकर
किस नभ में रात बिताता।

ये कान नहीं सुन पाते
'अवसान' तान क्या गाता !
किस कारण शशि अंबर में
मुसकाता-सा है आता ?

तारों के हार बना कर
रजनी शृंगार सजाती।
कर मुक्त केश अंबर में
किसको उलझाने आती?

है मुझे अपरिचित-सा ही
इस जग का 'कल-रव' सारा,
जैसे हो और कहीं पर
मेरा 'नन्दन-वन' प्यारा।

है जिसकी मधुर हँसी से
जग-मग स्वर्गङ्गा-धारा,
मेरी 'आँखों का तारा'
है सचराचर से न्यारा।

अब याद नहीं है मुझको
अपना ही 'कूल-किनारा'।
किस 'महासिंधु' में जाकर
'लय' होगी 'जीवन-धारा'।

मानों इस 'अंधियारे' में
मैं अपनी 'रात' बिता कर,
फिर 'उड़' जाऊँगी 'ऊपर'
अंबर में पर फैला कर।

दो 'गीतों' में जीवन का
मैं सारा 'मूल्य' चुका कर
फिर 'महागान' में जाकर
'मिल' जाऊँगी इठला कर।

इस जग के कोलाहल से
है मेरी तान निराली।
जग के वैभव से खाली
मेरे जीवन की प्याली।

पत्थर के इन टुकड़ों पर
क्यों दुनिया आपा खोती?
सब परख लिये हैं मैंने
इस जग के मानिक मोती।

मैं रहती उन्मन मन में
सब जग में अलग अकेली।
दुनिया को मैं, मुझको वह
लगती है गूढ़ पहेली।

क्यों पागल प्यास बनी है
मेरे प्राणों की प्याली?
किस कारण मुझ पर देते
'पल्लव-दल' पल-पल ताली?

यह 'कली' हिचकती मन में,
कैसे जग में मुसकावे?
कैसे लोभी 'अधरों' को
प्रेमामृत पान करावे?

जग की जगमग को कैसे
देखूं, आँखें सकुचाती।
जग के प्रमत्त उत्सव में
मैं भाग न लेने पाती।

मैं नई 'तारिका' नभ में
आ चमकी भूली-भटकी।
मानों, मैं वन की कलिका
उपवन में आकर चटकी।

मानों, मैं पथिक अकेली
भूली पथ-रेखा घर की।
मैं बिछुड़ी बूंद, अमरता
के मिलनोन्मुख सागर की।

क्या जाने किस गिरि से गिर
मैं नीचे भूपर आई।
किस विकल जलद के दृग ने
प्राणों की पीर बहाई ?

बह चली 'विश्व-सरिता' में
कर पार नगर, निर्जन-वन ;
अस्तित्व निरख अपना ही
मैं विस्मित होती क्षण-क्षण।

प्रत्येक, हृदय का कंपन
कहता है एक कहानी।
"तू महा-उदधि के उर की,
बस, एक लहर दीवानी।"

किस 'सागर' का आमंत्रण
है मलय समीरण लाई ?
करने हैं 'पार' मुझे अब
कितने गिरि गह्वर, खाई ?

होता है भान कहीं है
मेरा भी 'मधु-नंदन-वन'।
छूती थीं कभी मुझे भी
शीतल 'शशि-किरनें' छन छन।

अब पथ भूली उस सुख का,
पाया यह 'कंटक-कानन'।
किस ओर बहा जाता है
अब मेरा आकुल जीवन?

बहरा है जगत किसे मैं
प्राणों की पीर सुनाऊँ ?
इन काँटों में मैं कैसे
अब अपना नीड़ बनाऊँ ?

जल उठी अचानक उर में
किस आकाँक्षा की ज्वाला ?
है कौन, बतादे कोई,
यह आग लगाने वाला ?

हो उठा तरंगित मानस,
उर में सागर लहराता।
अभिलाषा की लहरों का
अब छोर नहीं मिल पाता।

किसकी स्मृति अंतस्तल को
करती पल-पल मतवाला?
किसने अपनी ममता का
छिप-छिप कर बंधन डाला?

अलिगुंजन-सा कानों में
अस्पष्ट 'गान' है आता,
परिचित-सा, किंतु न उसका
कुछ अर्थ समझ में आता।

वीणा के तार बजा कर
हरिणी-सा मुझे बुलाता!
किसका 'आकर्षण' मुझको
अनजान कहाँ ले जाता?

उड़ता है हृदय निरंतर
पर, उसे नहीं है पाना,
यह व्यर्थ असीम गगन में
'चक्कर' अविराम लगाता ?

यदि कभी, 'अलख', 'पथ' तेरा
पल भर को भी मिल जाता,
इन 'भूल भुलैयों' से तब
कुछ 'छुटकारा' मिल पाता।

संध्या के पट के पीछे
'निशि' की नूपुर-ध्वनि आई।
कण-कण में 'गान' करुणतम
देता है मुझे सुनाई।

इस 'अंधकार' में किसने
शशि-सी मृदु 'कोर' दिखाई?
इस संधि-समय में आँखें
क्यों इतना जल भर लाई?

चुंबन करता है कोई
आ-आ 'अवगुंठन' मेरा,
पर, देख नहीं पाती हूँ,
है चारों ओर 'अँधेरा'!

'भव' की ये निधियाँ सारी
बन गईं मुझे क्यों रौरव?
मानों, मैं लुटा चुकी हूँ
अपना सब वैभव—गौरव!

'नीड़ों' की ओर विहग-दल
उड़ते हैं, करते कल-रव।
मैं सूनी आँख निरखती
संध्या का 'मिलन-महोत्सव'।

वह 'क्षितिज' रोकता है पथ,
'उस पार' 'बसेरा' मेरा,
'माया ने डाला मेरे
जीवन पर कैसा 'घेरा'?

कल्लोलिनि लहराती है—
तट से मृदु क्रीड़ा करती,
ऊपर उस नील गगन की
रत्नों से थाली भरती !

माधुरी मुदित अंबर से
अवनी पर आज उतरती।
शशि-सुधा-कलश से मद की
धारा धरणी पर झरती।

कहते नक्षत्र के गगन के
तुम नाचो आज परी-सी।
हम चरणों पर आ लौटें,
है निशि उन्माद भरी-सी।

शीतल मृदु मलय पवन है
उपवन में मुक्त विचरती।
क्यों स्पर्श-मात्र से उसके
यह जीवन-लता सिहरती?

निशि के आँचल से मुँह ढक
जग-शिशु है सोने वाला।
पर पिला रहा है मुझको
कोई 'जाग्रति' का प्याला।

जब 'मूँद' 'पलक' देखेगा
जग सुख के सपने प्यारे,
क्या सूने में बैठूंगी
मैं व्याकुल गिनती तारे?

'विश्राम' करेंगे जब सब
'नीड़ों' में 'श्रम' से हारे,
क्या 'तरी' खोजती मैं ही
भटकूंगी सिंधु-किनारे ?

पर जब इस अस्थिर जग के
उस पार 'जगत' है मेरा,
तब क्यों न चलूं उस पथ पर,
मैं तोड़ 'क्षितिज' का 'घेरा' ?

इस भूले—भटके जग ने
समझा है जिसे 'किनारा',
वह माया-जाल भ्रमों का
दिखने में मोहक, प्यारा।

उस पर यह हृदय भटक कर
फिरता है मारा—मारा।
इस जग के पार 'क्षितिज' में
'प्रियतम' ने मुझे पुकारा ;

उस पार क्षितिज के मानों,
प्रियतम का स्वर्ण-महल है,
'छलना' से जहाँ मरु-स्थल
देता न दिखाई जल है।

शुचि अंतस्तल माता-सा
जिसका अति सरल, विमल है;
जिस छवि के दर्शन भर से
धुल जाता मति का मल है;

निशिदिन जिसको पाने को
सब शिशु से हाथ बढ़ाते :
जिसकी वत्सल गोदी में
पथ के सब श्रम मिट जाते :

ये प्राण ससीम जहाँ पर
बनकर असीम मुस्काते :
अस्तित्व गँवाकर अपना
हैं जहाँ अमर-पद पाते :

जो हृदय हुआ करता है
पल-पल पर व्याकुल चंचल,
कर देता उसको शीतल
जिसकी करुणा का अंचल :

संताप शांत कर देती
जिसकी करुणा की धारा ;
तमपूर्ण हृदय में जिसकी
छवि कर देती उजियारा ;

प्यासे प्राणों को मिलता
केवल छल का न मरु-स्थल :
चरणों से जहाँ न कुचले
जाते हैं आँसू निर्मल ;

वीणा के तार बजाकर,
हरिणी-सा पास बुलाकर,
लेता है जहाँ न कोई
बधिकों-सा प्राण भुला कर ;

है जहाँ छिपाकर रखनी
पड़ती न हृदय की ज्वाला ;
विषधर बनकर डस लेती
है जहाँ न उर की माला ;

भ्रम-संशय के कंपन से
कर का न छूटता प्याला ;
है प्रेम न समझा जाता
जिस जग में इतना काला ;

गंगा-सी बहती रहती
प्रेमामृत की मधु-धारा :
बंधन का जहाँ न पहरा
आमंत्रित है जग सारा :

वैभव अस्थिर जग मग में
है जहाँ न जी ललचाता :
फैला कर स्वर्ण, प्रलोभन
है जहाँ न जाल बिछाता :

विष-बीज न जीवन-उपवन
में कुटिल स्वार्थ है बोता :
जीते जी मर जाने का
उपक्रम है जहाँ न होता :

चुनता न जहाँ फिरता है
आकुल जग आँसू अपने :
नक्षत्रों से बुझ जाते
रजनी के जहाँ न सपने :

अभिलाषा-मुकुल न पथ पर
बिखरा, दुर्भाग्य-प्रभंजन
कर देता यौवन-तरु को
असमय में सूना-निर्धन;

निद्रा—तंद्रा, फैलाकर
अपनी मादक चादर को,
शिशु-सा न सुला देती है,
थपकी दे, त्रिभुवन भर को;

उस 'चिर-जाग्रति' के जग में
रहता है मानों 'सुंदर'।
उसके पथ में लहराता
है 'भव' का विस्तृत सागर।

केवल मिट जाने की ही
इच्छा इस उर में रखकर,
क्या इस 'अथाह सागर' में
दूं खोल 'नाव' का 'लंगर'?

उठ रहा ज्वार सागर में,
शशि चमक रहा अंबर में।
मैं कैसे रुकूं, अचानक
उन्माद उठा अंतर में।

रत्नाकर अपने जल में
जो झिल-मिल रत्न दिखाता।
जग 'लक्ष्य' भूल कर, उनकी
जग-मग ही में रम जाता।

मैं सुनती हूं, बैठा है
उस पार क्षितिज के 'प्यारा',
इस सागर की लहरों को
करता है मृदुल 'इशारा'।

केवल उसकी छवि अपलक—
छक-छक पीते हैं तारे।
उस ओर हृदय बहता है,
अब अविरल, बिना विचारे।

जो उसके तट तक पहुँचा
वह नहीं लौट कर आया।
किससे पूछूं, किस पथ पर
चलकर प्रियतम को पाया!

यद्यपि प्रियतम को पर्दा
करना है इतना भाया
'विस्मृति' भी फैलाती है
रह-रह कर अपनी माया,

फिर भी प्राणों पर छाई
उज्ज्वल अतीत की छाया।
कैसे कह दूं प्रियतम ने
है मेरा प्रेम भुलाया?

कितनी मादक तानों से
जग अपनी ओर बुलाता,
इस पथ पर बाधाओं के
कितने तूफ़ान उठाता,

जग के सुमनों का सौरभ
है सरस निमंत्रण लाता,
प्यालों में मधु भर मधुवन
अधरों में प्यास जगाता,

कितने 'मधु-गान' हृदय को
'अलि' आकर नित्य सुनाता,
फिर भी 'निकुंज' यह मुझको
फूटी आँखों न सुहाता।

जिस नंदन-वन का सौरभ
अनजान आज आता है,
मेरा उर अलि-सा उड़ कर
अब उसी ओर जाता है।

कुछ दूर मधुर वंशी-सी
देती है तान सुनाई,
सुन कर उमंग की यमुना
इन प्राणों में लहराई।

जो उसे श्रवण कर लेता
कब उसको जगत सुहाता?
मेरा उर भी चलता है
अब तोड़ विश्व से नाता।

जो एक तान सुन लेता,
वह हो जाता दीवाना।
है हृदय चाहने लगता
उस 'लय' में 'लय' हो जाना।

मैं तन्मय हुई उसी में
दुनिया के सुख-दुख छूटे।
ममता, माया, तृष्णा के
दृढ़तम बंधन हैं टूटे।

वह रूप छिपावे अपना
मैं कभी निराश न हूँगी।
इस भाँति भटकती फिरकर
मैं उसे प्राप्त कर लूँगी।

परिचित-सा प्रेम हृदय में
जाने क्या-क्या है गाता,
अंतर में जैसे कोई
कुछ 'बीती कथा' सुनाता।

हाँ, याद आ चली मुझको
कुछ भूली हुई कहानी,
कर पान प्रेम की प्याली
जब रहती थी दीवानी।

मुसकान इंद्र-धनु जिसकी,
चंचल चपला है चितवन
उसकी शीतल छाया में
करती नित नूतन नर्तन।

सागर की लहरें जिसके
उर का है लघु लघु स्पंदन,
वह जीवन-धन, मन-मोहन
करता आनन का चुंबन।

उस मंदिर में, जिसका है
अंबर लघु आँगन उज्ज्वल,
मैं शिशु-सी, कुमुद-कला-सी
करती थी क्रीड़ा चंचल।

नक्षत्र-मालिका से मैं
शृंगार सजाती अपना,
वह होता मुदित: हुआ अब
वह जीवन केवल सपना।

लट खुलती जाती निशि की
शशि ने आनन दिखलाया,
तारों की आँखें चमकी
रजनी ने जाल बिछाया।

'निद्रा' की साढ़ी ओढ़े
दुनिया ने दुःख भुलाया।
'बेहोशी' ने स्वप्नों का
है सुंदर कुंज खिलाया।

निशि की अलसित पलकों में
क्या नये स्वप्न हैं जागे ?
बजते हैं तार हृदय के,
क्या होने वाला आगे ?

इन किरणों की डोरी में
ऊपर को कौन चढ़ाता ?
सौरभ-सा आज हृदय उड़
अनजान दिशा को जाता ।

सागर की लहरें, मानों,
'सोने की तरणी' लातीं ।
किस छवि की 'शुभ्र पताका'
मुझको 'उस पार' बुलाती ।

कुछ ऐसा अनुभव होता—
हूं विकल जिसे पाने को,
वह स्वयं आ रहा मुझको
अपने घर ले जाने को ।

मैं कहीं किसी प्रेमी के
नयनों का नशा बनूंगी,
या तरु से गले मिलूंगी,
लतिका-सी फैल तनूंगी।

सागर के वक्ष-स्थल पर
लहरों-सी नृत्य करूंगी,
या वीणा बन प्राणों के
स्वर से त्रैलोक्य भरूंगी।

मैं नहीं जानती, किसके
कोने का 'दीप' बनूंगी।
मैं किस प्रशांत सागर के
मोती की 'सीप' बनूंगी ?

मैं नहीं जानती, किसके
प्राणों की प्यास बनूंगी,
मैं नहीं जानती किसके
अधरों का हास बनूंगी

किस प्रेम-पथिक के पथ की
मैं पावन धूल बनूंगी ?
मैं किस गुलाब के वन में
मधुपों का शूल बनूंगी ?

मैं नहीं जानती, किसकी
क्यारी का फूल बनूंगी,
मैं नहीं जानती, किसके
यौवन की भूल बनूंगी !

अनुराग बनूंगी, या मैं
अंतर की आग बनूंगी,
मादक विहाग या भैरव
जाने क्या राग बनूंगी ?

दीवाली-सी विलसूंगी
या होली-सी धधकूंगी
अंधी-सी अँधियारे में
चल, किस जग में पहुँचूंगी ?

क्या छिपा 'गगन' के मन में,
मैं नहीं समझने पाई।
किसने 'मरु' की लपटों में
यह कोमल 'कली' खिलाई ?

क्या सघन 'घनों' के उर पर
मैं चंचल विद्युत—रेखा ?
मिट जायेगा पल भर में
जीवन का जग–मग लेखा ?

सागर के वक्ष-स्थल पर
मैं एक लहर का स्पंदन,
क्या विशद-विश्व-वीणा की
मैं एक क्षीण-सी कंपन ?

बुद-बुद-सा पल भर चल कर
क्या मिट जावेगा जीवन ?
गिरना है, आँसू-सा कर
क्षण जग-नयनों में नर्तन ?

किस 'महामिलन' को मेरी
लालसा हिलोरें लेती ?
आशा नूतन अभिलाषा
इन प्राणों में भर देती।

जिस जग में उज्ज्वल मोती
हैं मिट्टी में मिल जाते,
हैं जहाँ कमल से मानस
चरणों से कुचले जाते,

ज्योत्स्ना की शीतल छवि भी
अंतर में आग लगाती,
उस जग से इन प्राणों की
वीणा न आज मिल पाती।

चिरदिन की संचित पीड़ा
सहसा मानस में जागी।
जगती की जगमग अस्थिर
निधियों से ममता त्यागी।

हो उठी अचानक जाग्रत
व्याकुलता-सी तानों में,
क्या कसक रहा रह रह कर
मेरे पागल प्राणों में?

हो उठा हृदय में गुंजित
किस प्रणय-कुंज का गुंजन?
जिनको सुनते ही बेसुध
हो चला अचानक तन-मन।

कर उठी वेदना सहसा
मानस में मादक मंथन ।
क्यों प्रेम कुसुम—शर तेरे
इतना देते उत्पीड़न ?

तू किस अदृश्य गढ़ में छिप
बाणों की वर्षा करता ?
अपने तीखे तीरों से
त्रिभुवन का आँगन भरता।

तू छूता जब मानस को
सब बंधन बह जाते हैं।
सब एक 'झलक' पाकर ही
दीवाने बन जाते हैं।

तू अरुण उषा बन कर जब
जीवन-नभ में है आता,
तब हृदय भक्ति से तुझको
आँखों का अर्घ चढ़ाता।

तेरे ही रक्तिम रँग से
भर जाता है उर-आँगन
होली-सी जला हृदय में
आकुल हो उठता जीवन।

किस अतल अकूल उदधि में
ले जाता तेरा झोंका ?
उस सागर का तट पाने
क्या दुख ही बनता नौका ?

लेती हैं प्राण जगत के
ये रूप-शिखा की किरणें ?
क्यों उड़ते मूर्ख पतंगे
मतवाले 'लौ' पर गिरने ।

क्या है मरीचिका केवल
सौंदर्य, रूप-धन, सारा ।
दुख पाता, प्यास बुझाने
जाकर, जग—मृग बेचारा ।

इस जग की प्रेम-कहानी
लगती मुझको कुछ फीकी ।
इससे न मिला पाती हूं
मैं संगति अपने जी की ।

ऊषा के रँग में रँगते
जब नभ-अवनी के आँगन,
पीला पड़ जाता जाने
किस दुख से मेरा आनन ।

सब संध्या की छाया में
जब खोते तपन हृदय की,
कर याद अचानक रोती
मैं भूले हुए निलय की।

रजनी जब मदिरा पीकर
हो जाती है मदमाती,
किस मधुशाला की मुझको
तब मादक याद सताती?

जब जुगनू चमक-चमक कर
तारों-से टूटे पड़ते,
मधुवन में नील गगन के
मानों, फूलों-से झड़ते,

तब मेरे नयनों से भी
झड़ते आँसू के मोती ।
किसका शृंगार सजाने
मैं उज्ज्वल हार पिरोती ?

भरता वसंत बसुधा का
आँगन सुरभित फूलों से,
कोई भर जाता मेरा
जीवन-उपवन शूलों से ।

पल्लव-दल में छिप कोयल
मतवाली तान सुनाती,
जब सरिता के प्राणों में
वैभव की बंशी गाती,

चाँदी की चादर बिछती
मादकता के आँगन में,
जब शशि नभ में मुसकाता,
तब रोती मैं निर्जन में।

अपना श्रम सभी किसी की
छाया में जब खोते हैं,
अपने—अपने नीड़ों में
'पक्षी' सुख से सोते हैं,

सब अपने—अपने मादक
स्वप्नों के हार पिरोते,
जब सुधा-धार से शशि की
सब अपना 'आँगन' धोते,

सबके हाथों में दिखता
हाला का प्याला सुंदर,
सब डाल रहे हैं झूला
जब एक-एक डाली पर,

जब एक—एक दिखती है
सब ही के उर में 'माला',
जब 'शशि' की ओर निरख कर
होता सब जग मतवाला,

तब व्यथा हलाहल से क्यों
भर देती मेरा प्याला?
बन जाती सर्प मुझी को
क्यों मेरे उर की माला?

अँधियारा नर्तन करता
क्यों अंतस्तल में काला?
उज्ज्वल ज्योत्स्ना क्यों मुझको
बन जाती भीषण ज्वाला?

किस कारण इन आँखों को
दिखता शशि भी अंगारा?
क्यों लगता है प्राणों को
यह तन भी दारुण कारा?

तम की छाया-सा दिखना
मुझको सारा उजियारा,
मानों मैं, खो बैठी हूँ
अपनी आँखों का तारा।

मैं अपनी ही साँसों के
डोरों को पकड़-पकड़ कर,
कितने दिन चल सकती हूँ
इस जगती के जन-पथ पर।

मैं क्यों इस सूने तट पर
आँसू का हार पिरोती?
सूनेपन के चरणों पर
क्यों खोती मानिक मोती?

कुछ दुखता—सा है उर में,
मैं हृदय थाम रह जाती।
भीतर से कोई कहता,
"यह प्रियतम की है थाती"।

मैं एक घड़ी में मरती,
फिर एक घड़ी में जीती,
इस आशा और निराशा
में जीवन-बेला बीती।

निधि इस कंगाल हृदय की
मिट्टी में मिलती जाती।
यदि 'प्रियतम' आ जाता तो
मैं हार बना पहनाती।

आशा का दीप जला है
पाकर अब मृदुल इशारा।
छूने को चरण हृदय-धन,
मैं बहती हूँ बन धारा।

उन्मत्त हृदय ने बंधन
अब तोड़ दिये हैं सारे,
अब छिप न सकोगे तुम भी
'मेरी आँखों के तारे'

वह छूट चुकी है कुटिया,
वह छूट गई फुलवारी,
थीं जहाँ बहुत सी कलियाँ
मुझ पर वारी-बलिहारी।

थी जहाँ कोकिला गाती
मृदु गाथा प्यारी—प्यारी।
बहती थी निकट कुटी के
गिरि-बाला शुचि सुकुमारी।

थी कल-कल, छल-छल, अविरल,
चलता बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी,
जाती थी चूम किनारा।

मिल मलिन सलिल अवनिशा का
जिसमें हो जाता निर्मल,
था नहीं कलंकित छल से
वह दुग्ध धवल शुचि अंचल।

जिसमें अपने आनन की
छवि लखना था जग सारा,
दिखता 'प्रतिबिम्ब' मनोहर
वह निर्मल दर्पण प्यारा।

वह शैलनंदिनी, जग की
दुख-दुविधा जिसे अपरिचित,
क्षण भर भी रुके बिना जो
बहती थी सतत अबाधित,

ऊंचे पर्वत भी जिसका
पथ रोक नहीं पाते थे,
उस पानी की धारा से
कट रज-कण बन जाते थे।

कहती, "अनंत" के उर में
मैं अपना सारा 'अंतर'
युग-युग से पिला रही हूं
बह-बह कर अविरल झर-झर,

"फिर भी प्रवाह प्राणों का
बहता है विकल निरंतर,
मिल जाते मुझ में आकर
जाने क्यों इतने निर्झर ?

"यद्यपि अनंत में मिलती
फिर भी अपूर्व रह जाती।
दिन-रात सोचती यदि मैं
अस्तित्व मिटाने पाती,

"इस कठिन कँटीले पथ का
तब सारा श्रम खो पाती,
पर पुनः नई वर्षा आ
मेरा मानस भर जाती ।

"मैं नई 'उमंगे' लेकर—
फिर बढ़ती हूँ बल खाती,
फिर भीम-भयंकर स्वर में
'जीवन के गान' सुनाती ।

"कितने ही तरु, पल्लव-दल,
कलियों को साथ बहाती।
क्यों कभी 'रागिणी' मेरी
है पूर्ण नही हो पाती।"

मै उस सरिता के तट पर
सुनती थी अश्रु बहाती,
मानों, वह कल-कल स्वर में
मेरी ही कथा सुनाती।

मैं भी 'अपूर्णता' से हूँ
मन ही मन मे अकुलाती।
'अनजान दिशा' को मैं भी
सरिता-सी बहती जाती।

हैं खड़ी 'लताएँ' कोमल—
क्यों मेरे पथ को रोके-?
कहती हैं, जाना 'प्रिय' के
घर हिम-कण से मुँह धोके।

"देखो तो ज़रा हमारा
मृदु नर्तन, मन के झोंके।
क्या मिल जाएगा तुझ को
दिन-रात विकल रो-रो के।

"मत इतनी जल्दी हम से
तुम अपना नाता तोड़ो
इस सूने जग में हमको
बन स्नेहहीन मत छोड़ो।"

मेरी कुटिया से चल कर
कुछ दूर 'ताल' है सुंदर,
जिसमें प्रतिबिंबित होते
रवि, शशि, तारे, घन, अंबर।

था मादक गीत सुनाता
कुमुदिनि का उर दीवाना,
"कुछ सरल नहीं है, बौरी,
'प्रियतम के घर' तक जाना।

"भाया है, हाय, उन्हें तो
'अंबर' में 'महल' बनाना ।
हा, लिखा भाग्य में मेरे
है नहीं पंख भी पाना ।

"रह दूर यहीं से उनके
दर्शन पाकर मुसकाना,
सौभाग्य समझती शशि की
किरणों से चूमा जाना ।"

उस ओर आ रही रज से
कलिका की कोमल वाणी।
"उर का सर्वस्व लुटा कर
रज में मिल जा दीवानी।

"परिणाम प्रेम का इतना,
इतनी-सी प्रेम-कहानी,
वह दो दिन का गौरव था
जब आँखें थी मस्तानी।

"ये मधुप जानते केवल
मानस का 'रस' पी जाना।
मैं समझ नहीं पाई थी
इनकी 'माया का गाना'

"किस छल से भरा हुआ था
ऊषा का मुझे खिलाना ?
हो गया प्रलय, मुझको वह
मेरा पल भर मुसकाना।

"है भला यही, खिलने के
पहले ही मुरझा जाना।
जिससे न स्वार्थियों को हो
प्रेमामृत पान कराना।

"सारे अरमान हृदय में
चुपचाप भरे ले जाना,
जग की आँखों से बच कर
वन की रज में मिल जाना।"

वह उधर शून्य कुटिया में
जलता है दीप अकेला ।
लग रहा शहीदों का है
उसके चरणों में मेला ।

कहते पतंग दीवाने,
"'करता है 'स्नेह' 'उजेला' ।
ऐ 'ज्योति' गले मिल ले तू
है यही 'अमरता-बेला,

"प्रियतम के चरणों पर ही
अपना 'सर्वस्व' चढ़ाना ।
जीवन देना ही तो
कहलाता जीवन पाना ।

"है लक्ष्य लालसाओं का
अपना अस्तित्व मिटाना ।
'छवि' का उद्देश्य यही है,
'स्नेही' का हृदय जलाना ।

"जलदों का प्यार यही है,
प्राणों में प्यास जगाना ।
है धर्म यही निशिकर का
जीवन में ज्वार उठाना ।

"जीने का सार यही है
प्रियतम पर प्राण चढ़ाना,
है प्रेम सिखाता जग को
आशा की भस्म बनाना ।

"हम नहीं चाहते अपने
प्यारे का हृदय लुभाना
है यही अभीष्ट हमें तो
छवि-ज्वाला में जल जाना।

"क्यों रुदन करें वे जिनको
आता है हँस कर मरना,
हो गया शुष्क जल-जल कर
जिनकी आँखों का झरना।

"गुंजित होती अग-जग में
ध्वनि अलि-दल के गुंजन की।
मरते दम तक प्रियतम से
हम कह न सके हैं मन की।

"है यही विभूति प्रणय की
'ज्वाला' को गले लगाना,
पाकर 'प्रकाश' उस में ही,
बस, 'एक रूप' हो जाना।"

कहता है दीप समुज्ज्वल,
"यों तिल-तिल हृदय जलाना
फिर कभी-कभी 'विस्मृति' के
हाथों क्षण भर बुझ जाना,

"फिर स्मृति के हाथों का आ
अंतर में आग लगाना,
यह कितनी कठिन दशा है
जीवन भर नेह निभाना !

"मानस का स्नेह तरल ही
जग को जग-मग करता है,
प्रेमी का तिल-तिल जलना
जग में 'प्रकाश' भरता है।

"जब 'अंधकार' कुटिया में
आ, अशुभ चरण है धरता,
तब मैं ही ज्योतित कर 'घर'
वह कालापन हूँ हरता।

"जब राग रंग का जग में
मादक झरना है बहता
मैं मूक दशा में तब भी
कुटिया में जलता रहता।

"अपने प्राणों की ज्वाला
मैं हँस-हँस कर हूँ सहता,
मैं अपनी 'प्रेम-कहानी'
अपने ही मन से कहता।

"उन्माद यही कहलाता,
'आनंद' इसी को कहते।
विरले ही होते ऐसे
जो इतनी ज्वाला सहते।

"जलने दो, स्नेह सिखाता,
अंतर का कोना-कोना।
है बुरा 'मिलन' की धुन में
प्राणों का व्याकुल होना।

"यह प्रेम समझता अनुचित
मानस की आग बुझाना।
यह नहीं सिखाता पल में
हिम-कण-समान गल जाना।

"जब जादू-भरे किसी के
कर स्नेह हृदय में भरते,
फिर धीरे से उकसा कर
जब शिखा प्रज्ज्वलित करते,

"तब इस छोटी-सी छवि पर
कितने पतंग जल मरते !
कितनों के स्वप्न अधूरे
चरणों पर तड़प, बिखरते !

"अविराम 'विरह' में जलना,
'जीवन' है यही कहाना।
वह स्नेहहीन है, जल कर
जो पल भर में बुझ जाना।"

उस ओर ताल में कहता
है कमल कहानी न्यारी,
"यदि शशि-किरणें ही होतीं
सारे जग को हितकारी,

"तो तरुण-अरुण की किरणें
क्यों लगतीं इतनी प्यारी,
अवसान-विहान न होते
मिट जाती दुनिया सारी।

"संतुष्ट नहीं कर सकती
सबको ज्योत्स्ना की छाया।
फैली है अखिल जगत में,
यह मृग-मरीचिका माया।

"अभिलाषाओं का उर में
यदि तने न ताना-बाना,
रुक जावे उच्छ्वासों का
बादल-सा नभ में छाना।

"जब 'प्रियतम' की किरणों की
'आहट' पथ में है आती,
तब अपने आप अचानक
मेरी 'पलकें' खुल जाती।

"इस दुनिया में सुख-दुख के
आते ही रहते झोंके।
रे पगली, क्या ले लेगी
दिन-रात व्यर्थ रो-रो के।

"अरमान हृदय के भीतर
यदि कोई सुख से पाले,
तो इतना नहीं सतावें
अंतर के कोमल छाले।

"मत समझो, दुर्लभ, बाले,
प्रियतम के दर्शन पाना।
यदि सीख सको प्राणों की
पीड़ा चुपचाप छिपाना।"

उस ओर विजन में कहती
उपवन की सूनी क्यारी,
"यदि उजड़ न जाती चंचल
यौवन की यह फुलवारी,

"पतझड़ न अगर उपवन की
कर देता थाली खाली,
यदि सदा भरी ही रहती
रस, मधु, सौरभ से प्याली,

"तो मान न पाती कुछ भी
मधुपों से मेरी डाली,
तो सुमन न चुनता कोई,
तो हार न रचता माली।

"यदि पवन नहीं समझाता
कलियों को प्रेम-पहेली,
तो सूने में मुरझा कर
चू पड़तीं क्या न अकेली !

"ये झोंके आकर करते
सब ही का मन मदमाता।
मधुमास अचानक आकर
सबका उर-कुसुम खिलाता।

"यदि सदा निरे दर्शन से
मधुकर का मन भर जाता,
तो कठिन कंटकों से बिंध
क्यों अपने प्राण गँवाता !

"यदि कमल सरोवर से ही
सबका मानस हर्षाता,
क्यों जगत उसे पाने को
लहरों में गोते खाता !

"प्राणों की प्यास न बुझती
पी-पी प्याली पर प्याली।
मुरझाने ही को खिलती
है वन-उपवन की डाली।

"जब तक यौवन की घड़ियाँ,
मद पीलो और पिला लो—
किसने भविष्य को देखा,
जब तक हो मौज उड़ालो।

जब जीवन का अंतिम फल
है निश्चय मुरझा जाना,
तब यही भला है, जब तक
जीना है, हँसना-गाना।

प्रत्येक पवन का झोंका
कहता है नई कहानी ।
संतोष नहीं होता है
सुन भाँति-भाँति की वाणी ।

वन-वन में, औ' कण-कण पर
इन चरणों के भी नीचे,
जाने किस-किसने कब कब
हैं निर्मल आँसू सींचें ।

जग कुचल-कुचल कर उनको
चलता है आँखें मींचे,
अवकाश किसे है उनकी
तसवीर बैठ कर खींचे।

जिस हरियाली झुरमुट में
कर रक्खी तरु ने छाया,
जाने उसके प्राणों में
किस ममता की है माया।

उस सूने वन में किसने
करुणा का दीप जलाया?
किसने जग की आँखों से
है अपना रूप छिपाया?

सूनी समाधि के ऊपर
वह कौन अकेली रोती,
उज्ज्वल करने को किसकी
स्मृति-रेखा दृग से धोती?

दब रहे भूमि के नीचे
कितने 'प्राणों से प्यारे' !
कितने ही महल मिले हैं
रज में, अभाग्य के मारे।

परिवर्तन के मनमाने
भूचाल अचानक आकर,
चल देते हैं, चुपके से
गिरि-शृंगों तक को ढा कर।

यह समय सिंधु अनजाने
भीषण तूफ़ान उठा कर,
गंभीर शांत बन जाता
कितने ही पोत डुबा कर।

ज्वाला विनाश की जलकर
कुटियों में आग लगाकर,
बढ़ती जाती, नगरों को
मरघट-समान सुलगाकर।

कृषकों की आशाओं पर
चुपचाप तुषार गिराकर,
चल देता काल जगत पर
दुख के दारुण घन छाकर।

भर-भर कर व्यथा पिलाती
है विष-प्याली जग भर को।
दिशि-दिशि से दुख का स्वर आ
भरता मेरे अंतर को।

हैं मौन शून्य के उर में
जाने किन-किन के गाने?
किसने दुखिया दुनिया के
अंतर के स्वर पहचाने?

टूटे पत्रों से उड़ते
फिरते कितने दीवाने।
कितनी ही वीणाओं में
हैं विकल व्यथा के गाने।

जो खड़े हुए हैं निश्चल
पर्वत से मन को मारे
उनके भी उर से झरते
रहते कितने फव्वारे !

जो जग से ऊपर उठकर
बनते हैं नभ के तारे,
वे जाने किसकी अपलक
कर विकल प्रतीक्षा हारे !

मुसकान अधर पर दिखती,
प्राणों में व्यथा सघन है।
जग के दीपक के तल में
छाया तम--तोम गहन है।

कितने ही दुखियाओं को
बन गया जगत यह कारा,
जाने किस--किस दुनिया में
उनकी आँखों का तारा।

निशि में हो जाती जाने
किस-किस के उर की चोरी,
निद्रित कर देती जग को
जब रजनी गाकर लोरी।

मुरझा देती उर-शतदल
शशधर की कला-किशोरी।
कितने भोले हृदयों पर
तन जाती असि-सी त्योरी।

हैं छिपे धरा के तल में
दोनों पावक औ' पानी।
इनको भी बश में करके
हैं यंत्र चलाते ज्ञानी।

जिनके चक्रों में पिसकर
मिट रही सभ्यता सारी,
अवशेष रही है जनता
कंकाल-मात्र बेचारी।

ऐ समय, कौन सुन पाया
है तेरी पूर्ण कहानी।
ऐ व्यथा जगत में करती
फिरती है तू मनमानी।

वैभव के सिंहासन पर
चढ़कर हँसते अभिमानी।
कहते हैं ईश्वर का भय
है दुनिया की नादानी।

रखती रवि--शशि--तारों को
नभ में स्थित किसकी डोरी ?
जिसके बल अधर सधे ये
वह नहीं कल्पना कोरी।

किस कारण, किंतु, उसी ने
दुखमय संसार बनाया।
क्या दुख--सुख दोनों माया,
छल--मात्र, अविद्या-छाया।

मैं सबकी पीड़ा अपनी
वीणा में यदि भर पाती,
झंकार हृदय की नभ के
उस पार कहीं पहुँचाती,

तो अमरों के स्वामी की
करुणा-पलकें खुल जातीं,
अमरत्व--सुधा की बूंदें
दो--चार यहाँ गिर जातीं,

तो चिर--वसंत में विकसित
होती जग की फुलवारी,
कुसुमों की म्लान न होती
मुसकान मनोहर प्यारी।

हो जाता किंतु जगत को
भारी इतना सुख--वैभव,
यदि मृत्यु न होती तो यह
जीवन बन जाता रौरव।

बिजली-सी चमक-चमक कर
मुसकान न यदि मिट जाती,
तो जग के प्राणों में वह
कौतूहल नहीं जगाती ।

यदि प्रेम-कुंज में होते
काँटे न विरह, बाधा के
आनंद न पाता कोई
अपने प्रियजन को पा के ;

यदि चढ़े हुए फूलों को
फेंका न राह पर जावे,
तो नित्य नई अंजलि भर
चरणों पर कौन चढ़ावे ।

बुझ जाती कहीं प्रलय की
दिशि-दिशि में जलती ज्वाला,
तो जीवन की महिमा का
हलका हो जाता प्याला ।

ऐ विकल प्रेम की पीड़ा !
जादू कैसा है तेरा।
क्यों अधिक बढ़ाता जाता
ममता तुझ से मन मेरा ?

क्षत—विक्षत करती शत—शत
घावों से तू अंबर को।
शत-शत निर्झर-धारों में
तू रुला रही भूधर को।

अभिलाषाओं का खग-दल
कब उड़ पाता है ऊपर,
खाकर अचूक शर तेरे
गिर पडता पल में भू पर।

तूने ही कंटक-दल से
भर दी फूलों की क्यारी,
मैं नहीं जानती तू क्यों
लगती प्रियतम-सी प्यारी।

तू आज हृदय में सहसा
क्यों कूक उठी कोयल-सी ?
मैं कुटी छोड़ कर सूनी
किस ओर चली पागल-सी ?

मैं सुन न सकूंगी सब के
सुख-दुख के सारे गाने,
आई स्वर-जाल बिछाकर
माया मुझको फुसलाने।

है लाख—लाख कलियों से
भर जाती जग की क्यारी
कहते हैं अधर 'मधुप' के
सब को ही 'प्यारी-प्यारी'।

है जहाँ क्षणिक झोंके से
गिरती कलिका बेचारी।
मुझको प्रतीत होती है
भ्रम-मात्र सृष्टि यह सारी।

उलझाए हैं निद्रा में
जब जग को निशि की अलकें,
'नीड़ों' में लगी हुई हैं,
जब सब विहगों की पलकें,

मेरी आँखों में कैसे
तब जाग्रत सपने झलके।
मैं समझ न पाई गाने
इस पागल अंतस्तल के।

शीतल 'समीर' मानस में
किस का सौरभ है भरती!
किसकी 'असीम सीमा' में
मैं अब 'प्रवेश' हूँ करती!

इच्छा होती है, मैं भी
उन्मत्त 'नदी' बन जाती,
मैं भी अनंत के उर में,
अपना सर्वस्व चढ़ाती।

मैं मुदित 'विहग'-सी 'नभ' में
यदि 'मुक्त' विचरने पाती,
तो इस जग की सीमा से
मैं पार अभी हो जाती।

यदि हो अमरत्व जगत में,
आँखें क्यों ताकें ऊपर ?
किस कारण आदर पावे
यह मृत्यु भयंकर भूपर ?

लो मान, उतर ही आवे
यदि अंबर इस अवनी पर,
तो कितना 'भार' हृदय पर
जम जाय अचानक आकर।

यदि 'नभ के तारों' से भी
जग अपना हृदय सजावे,
वह शांति नहीं पाएगा
चाहे अंबर बन जावे।

जग के महान महलों की
है नींव भूमि के ऊपर,
जो अस्थिरता के नभ में
है स्वयं रही आहें भर।

उस 'महासिंधु' में जब तक
यह 'जीवन' नहीं मिलेगा,
तब तक अभिलाषाओं की
ज्वाला में हृदय जलेगा।

सुनती हूँ पार क्षितिज के
प्रियतम का सुंदर 'घर' है,
जिसके चरणों को छूने
झुक गया वहाँ अंबर है।

उस पर्दे के पीछे ही
रहता क्या 'सत्य, अमर' है,
जिसकी छवि रवि-शशि से भी
सुंदर है, अजर, अमर है।

जिसके प्रकाश में होते
आलोकित रवि, शशि, तारे,
संचालित करते जग को
जिसके अविराम इशारे।

कहते हैं, मुझे उसी ने
भेजा है जग-आँगन में।
उसकी ही चंचल गति है
मेरे प्रत्येक चरण में।

उसकी ही ध्वनि सुनते हैं
सब अपने जीवन-पथ पर
करता है वही प्रकाशित
जग के अँधियारे अंतर।

उसके ही हाथ सँजोते
दीपावलि शून्य गगन में,
उसके ही कर करते हैं
कलियाँ विकसित उपवन में।

जाने को पार क्षितिज के
पथ पाना भी है दुस्तर,
बँध गया प्रेम-बंधन में
अवनी अंबर का अंतर।

मैं निकट पहुँचती जितनी
यह सीमा बढ़ती जाती?
इस 'भूल भुलैयाँ' में ही
मति भ्रम के चक्कर खाती।

क्या पंख फड़फड़ाते ही
बीतेगा सारा जीवन।
क्या आँसू बरसाते ही
मुँद जावेंगे ये लोचन।

अभिसार निशा का मेरा
असफल उद्भ्रांत हुआ है,
रजनी बीती, पर उर का
तूफ़ान न शांत हुआ है।

किस ओर कहाँ जाना है
कुछ ठीक न मैं कर पाई।
इस अंधकार में चल कर
सब रजनी व्यर्थ गँवाई।

जग जाग-जाग कहता है,
"देखो यह पगली आई।
इसकी आँखों में कैसी
ऊषा-सी लाली छाई"।

यद्यपि भरदी है मैंने
आँसू से डाली-डाली,
फिर भी पीड़ा की प्याली
हो सकी न तिल भर खाली ।

वे पोत खोलते हैं सब
मैं ही क्यों रहूँ अकेली !
क्यों तट की लहरों ही से
करती हूँ मैं अठखेली !

बुझ गये सकल तारागण,
छिप गया चंद्र शर्मा कर।
कलियों के कानों में कुछ
कहते हैं मधुकर गाकर।

अधखिले हृदय कलियों के,
लखते जाग्रति के सपने।
किस गहन गुफ़ा में चलदी
रजनी समेट पट अपने।

पलकें कमलों की खुलती,
कर उठे प्रकाश प्रभाकर।
'मेरा सुख लूट लिया क्यों?'
कहती कुमुदिनि मुरझाकर।

किस सुख से पुलकित होकर
कर उठा विहग-दल कल-रव
मलयानिल हलके-हलके
चलती, हिलते हैं पल्लव।

सरकी है निशा उषा ने
अपनी पलकें हैं खोली।
है किस 'अदृश्य' ने रवि के
पथ में छिड़की यह रोली।

उपवन ने भी हिमकण से
अपनी पलकें हैं धो ली।
मधुपों ने उर की तृष्णा
कलियों के उर से तोली।

तम सोया तरुओं के तल
बनकर हलकी-सी छाया,
उड़ चले विहग अंबर में
आह्वान-गान है गाया।

पौ फटने के पहले ही
मैंने है 'नौका' छोड़ी।
है अब 'अनंत के पथ पर'
दिनकर से होड़ा-होड़ी।

सब ओर भयंकर लहरें
फैला यह जल ही जल है।
ऊपर वह नील गगन है,
नीचे सागर का तल है।

ले चलीं बहा कर लहरें
किस ओर, कहाँ, किस तट पर ?
सागर के उर में उमड़ा
यह कैसा गान भयंकर ?

रँग रहा 'रक्त' के रँग में
ऊषा का मृदु मुसुकाना।
किसके 'इंगित' पर मुझको
है अपनी 'नाव' चलाना ?

कब रोक सका है कोई
यौवन की चंचल लहरें ?
मानस की मुक्त तरंगें
कैसे बंधन में ठहरें ?

मैं इस जीवन-नौका को
किस सागर में खे लाई ?
यों कब तक चल सकती हैं
लहरों से हाथापाई ?

फिर भी 'चिर सुंदर' का शुभ
संदेश यहाँ तक आता,
उस नन्दन-वन का सौरभ
है पवन हृदय तक लाता !

जो 'प्यास' हृदय में जागी
क्या रोके रुक सकती है?
'चातक' की तृष्णा जग के
झरने से बुझ सकती है?

छू स्वर्ण-रश्मियों ने उर
जाने क्या भाव जगाया।
जाने किस 'मलयानिल' ने
मानस का कमल खिलाया।

उन्मत्त हृदय है, मद की
दी पिला किसी ने प्याली।
आवेंगी फिर न कभी ये
घड़ियाँ प्यारी, मतवाली।

ऐ हृदय, आज बहने दे
'नौका' को झोंके खाती।
आने दे यदि आती है
'आँधी' तूफ़ान उठाती।

'सीमा' के बंधन टूटे
'चेतना' लुप्त है मेरी।
मैं आँखें मूंद बढ़ूंगी
लहरों पर 'सागर' तेरी।

कितनी 'नौकाएँ' डूबीं
'भव-कूल' नहीं है पाया,
फिर भी मैंने इस जर्जर
'तरणी' को आज बहाया।

वह रवि कहता है, "पगली
इसका है कहाँ किनारा"?
इस 'उदय-अस्त' में मेरा
बीता है जीवन सारा।

"मैं" उठता-गिरता फिरता
इस पथ में मारा-मारा,
पर फल न मिला है कुछ भी,
हो भी कुछ 'कूल-किनारा'!

"मैं" नित्य जहाँ से चलता
आ जाता वहीं 'सवेरे'।
ऐसे ही व्यर्थ गगन में
देता रहता हूं फेरे।

"पा जाता पार क्षितिज का
पर पुनः क्षितिज आ जाता।
'अवसान' जिसे कहते हैं
है वही 'उदय' कहलाता।

"जिसके 'वियोग' की मेरे
प्राणों में जलती ज्वाला,
क्या जग में जनमा कोई
उसका 'पथ' पाने वाला।

"जब 'एकाकार' बनेंगें
घुल-मिलकर 'साँझ-सवेरे'
जिस दिवस शांत होगी यह
'ज्वाला' अन्तर की मेरे,

"जब होगा शून्य जगत सब
अपना अस्तित्व मिटाकर,
तब अपने आप मिलेंगे
सब उस 'अनंत' में जाकर।

"है वही 'मुक्त' कर सकता
जिसने जग-जाल बिछाया।
यह वही मिटा सकता है
जिसने यह खेल बनाया।

"जिसकी इच्छा की विस्तृत
सागर भी, एक लहर है,
उस छवि के दर्शन पाने
लोचन पाना दुस्तर है।

"कितना ही ऊँचा कोई
चढ़ जाए इस अंबर में।
वह उसे 'गिरा' देता है
अवनी पर फिर पल भर में।

" कितनी 'नौकाएँ' निशि-दिन
'सागर' पर बहती-रहती,
उन से 'विनाश' की गाथा
आ आकर लहरें कहती।

" तू अपनी जर्जर 'नौका'
क्यों खेती व्यर्थ अकेली,
जब सुलझाने वाला है
आ अंत 'अनंत' पहेली।"

वे फूल कूल दुनिया का
क्यों पूछ रहे हैं सारे?
सागर उड़ता है ऊपर
क्यों अपने पंख पसारे?

अपने-अपने विटपों को
सब विहग बृन्द अब तज कर
उड़ चले उषा का मधुमय
कलरव से अभिनंदन कर।

है आज प्रतीक्षा पथ का
कण-कण क्यों इतना प्यारा ?
जब इस 'अनंत-यात्रा' का
मिलता ही नहीं किनारा।

क्यों छोड़ न आशा सारी
रवि का रथ भी रुक जाता ?
वह नित्य नई लाली ले
क्यों अंबर में है आता।

युग-युग तक उसके पथ पर
चलना क्यों इतना भाता ?
क्यों यह 'रहस्य का पर्दा'
कौतूहल अधिक जगाता ?

मैं एक बूंद हूँ जिसकी
क्या उस में नहीं मिलूंगी
मैं तुहिन-विंदु-सी कब तक
'पत्तों' पर व्यर्थ हिलूंगी।

'पतवार' छोड़ कर क्या अब
वीणा के तार बजाऊँ ?
क्या 'सर्वनाश' के स्वर में
अब अपनी तान मिलाऊँ ?

क्या अपने ही प्राणों को
मैं 'जीवन-गीत' सुनाऊं ?
क्या उस अनंत को उर की
पीड़ा में ही पा जाऊं ?

— - —

है यह रहस्य भी प्यारा,
रह गुप्त सदा हृदयेश्वर,
पर, रखना सदा प्रकाशित
अपनी स्मृति से यह अंतर।

यदि यह रहस्य का पर्दा
ओझल हो जावे प्यारा,
जग—एक कल्प की रचना—
मिट जावे पल में सारा।

जग में ये 'जाल' मनोहर
यदि नहीं बिछाए 'माया',
तो 'खेल' बिगड़ जाए सब
युग-युग का बना-बनाया।

यदि कृष्ण पक्ष का जग में
होता न अंधेरा काला,
तो आदर पाता जग में
क्यों ज्योत्स्ना का उजियाला।

दुख, व्यथा, वेदनाओं की
ज्वाला में जल-जल जीवन
कर भस्म कालिमा मन की
कंचन-सा बनता पावन।

जग रंग-मंच पर अभिनय
कर सुख-दुख के नित नूतन,
पर भूल न जाए उसको
जो सूत्रधार चिर-चेतन।

जाग्रति में, बेहोशी में
जागे वह प्यारा सपना।
आँखों में घूम रहा हो
चिर-सुंदर प्रियतम अपना।

विश्वास हृदय में पूरा
चातक-सी 'प्यास' जगी हो,
दुर्लभ कुछ नहीं मुझे यदि
सरिता-सी लगन लगी हो।

हाँ, तिरती रहो 'तरणिका'
तुम ऐसे ही सागर में
उठती ही रहो 'उमंगो'
तुम ऐसे ही अंतर में।

आघात लगें लहरों के
छिड़ जायँ 'प्रलय' के गाने,
पर, चलती रहूँ सदा ही
प्रियतम का दर्शन पाने।

अंचल को नभ में, चंचल
आ आकर मलय उड़ावें।
उस पार क्षितिज से मुझको
वह नित्य 'निमंत्रण' लावें।

दुख-विपदा की घन-माला
चाहे घिर-घिर कर आवे,
मैं डरूं नहीं यदि आँधी
भीषण 'तूफ़ान' उठावें।

मेघों के कालेपन से
ओझल होवे ग्रह-माला
प्रियतम का स्नेह हृदय में,
पर, करता रहे उजाला।

'अभिसार' विफल जीवन का
क्या सफल न होगा पूरा ?
देखूं, क्या गान व्यथा का
टूटेगा सदा अधूरा ?

उरकी तरंग-माला का
हो अंबर से आलिंगन।
अब प्रेम-उदधि में मेरा
डूबे सब तन, मन, जीवन।

यदि भूल जगत की स्मृति को
अपना भी ज्ञान भुलाऊं,
प्रियतम सागर-सा उमड़े,
मैं सरिता-सी मिल जाऊं।

नाविक बन जीर्णतरी को
वह आकर स्वयं सम्हाले।
इस विकल विरहिणी को वह
पुलकित हो गले लगाले।

फिर स्वयं पकड़ मेरा कर
ले जावे वह लीलाधर,
अपने शुचि स्वर्ण-सदन में
दे स्थान मुझे भी सुखकर।

है 'गान' गूंजता उसका
इस सागर के गर्जन में।
है प्रेम फूलता उसका
मरु भूमि समान विजन में।

जो धन 'अंधेरे में' आ
आलोकित करता अंतर.
क्यों नहीं "प्रकाश" करेगा
वह मेरे जीवन-पथ पर ?

जो जग—मग ज्योति जगाता
रहता जग के कण-कण में,
वह क्यों न करेगा 'क्रीड़ा'
मेरे भी व्याकुल मन में ?

आशा है एक दिवस तो
चमकेंगी 'किरणें' उज्ज्वल ।
तब तक लहरों पर तरणी
तिरती रहने दूँ अविरल ।

वंशी में फँसे हुए से
लोचन हों उसमें अटके,
सागर के परले तट से
वह रूप लगावे झटके।

वह 'विश्व-गीत का गायक
मतवाली 'तान' सुनावे,
उस की ही 'लय' में मेरी
'वीणा' का स्वर मिल जावे।

वह छिप न सकेगा, उर की
आँखों का पट खुल जावे,
यदि उसे प्राप्त करना है
अपने को हृदय भुलावे।

मेरी उत्सुकता प्रिय की
पल-पल पर आहट पावे,
मैं बुरा न मानूंगी, यदि
वह भ्रम के जाल बिछावे।

युग-युग तक ठगे भले ही
जीवन का भाग्य-विधाता,
मेरा कौतूहल गावे,
'वह प्राणेश्वर है आता'।

अब अतल सिंधु में चाहे
यह 'तरणी' डूबे जाकर,
चिर-मग्न मुझे भी कर ले
चाहे अथाह रत्नाकर,

बन शूल, विरह की पीड़ा
नित मेरा हृदय दुखावे,
मैं कुछ न कहूँगी मुझको
कलियों-सा कुचला जावे।

चल 'मलय' भले ही उर में
फूलों-से घाव खिलावे।
यदि कभी उड़ाकर उसके
चरणों पर मुझे चढ़ावे।

मैं 'उफ़' न करूंगी, पतझड़
की वायु मुझे झुलसावे,
यदि कभी तोड़कर प्रियतम
पल भर भी हृदय लगावे।

इस 'यात्रा' की असफलता
आशा की ज्योति जगावे।
सब सह लूंगी कैसी भी
जीवन में 'आँधी' आवे।

युग—युग तक मेरी नौका
लहरों पर ही लहरावे,
पर दुर्दिन की आँधी में
स्मृति-दीप न बुझने पावे।

उस जीवन-धन का चिंतन
बनकर सुस्थिर ध्रुवतारा,
उस पथ की ओर निरंतर
करता ही रहे इशारा।

————

वह गर्जन-तर्जन करती
है लहर प्रलय की आती
जिसकी आहट से थर-थर
कँपती सागर की छाती।

मानों, उसके पंखों पर,
सोने का मुकुट लगा कर
जल पर क्रीड़ा करने को
आ रहा आज लीलाधर।

मुझको ही अपनाने को
क्या आता है करुणाकर ?
मैं कैसे शीघ्र पहुँच कर
गिर जाऊँ उन चरणों पर।

यदि किसी लहर का झोंका
बालू के सूने तट पर,
दे पटक, घड़ी भर में ही
सागर से मुझे उठा कर,

मैं कुछ न कहूंगी तब भी
फिर नूतन 'नाव' बनाकर,
फिर नई उमंगे लेकर,
चल दूंगी इस यात्रा पर।

बन लहर सिंधु की चंचल
टकराती औ' बल खाती,
क्या तट न हृदय-धन का मैं
छू पाऊंगी इठलाती ?

मैं करुण गान का कंपन
बन कर, समीर पर चढ़कर,
पल भर भी कर न सकूंगी
क्या आकुल उसका अंतर ?

मैं अतल सिंधु में डूबूँ
मेरी आँखें मुद जावें,
नौका, पतवार, जगत की
आँखों से यदि छिप जावें;

क्या उस चिर-निद्रा में भी
वह मिल न सकेगा प्यारा ?
क्या वह गँभीर सपना भी
झूठा निकलेगा सारा ?

जग की चिर निद्रा मुझको
चिर-जाग्रति है आलोकित,
जब आँखें मुँदती दिखती
वह छबि, रवि जिस पर मोहित ।

जल, थल, अंबर में उसने
अपना अंचल फैलाया,
है एक बात ही तल में
डूबी या तट को पाया।

प्रिय की स्मृति, शशि-सी, उर में
तूफ़ान उठाती रहना,
कुछ सरल नहीं होगा क्या
तब इस नौका का बहना?

हो उदय सूर्य-सा नभ में
उर-कली खिलावे सुंदर
तो चढ़ न सकूंगी उसके
क्या किसी दिवस चरणों पर ?

यदि सुख-दुख के झोकों में
उर उसको भूल न जावे,
तो क्या 'अदृश्य-कर' बढ़ कर
मुझको न कभी अपनावे।

रवि के रथ सी ही मेरी
यदि नौका चले निरंतर,
तो देखूं, उसमें मुझमें
रह सकता कितना अंतर।

जो पहुँचाये उस तट पर
वह लहर स्वयं आवेगी,
तब तक यह जर्जर तरणी
लहरों पर लहरावेगी।

यह हृदय-गगन भी होगा
उस 'महातेज' से रंजित,
मेरी 'यात्रा' है उसके
गीतों से ही अभिनंदित।

जब 'अंधकार माया का'
आँखों से हट जाएगा।
तब उसके स्वर्ण-महल का
क्या द्वार न दिख पाएगा?

———

वह कितनी दूर कहाँ है,
इसका क्या पता लगाऊं ?
केवल इच्छा है इतनी
मैं उसमें ही मिल जाऊं।

शत-शत पथ उस प्रियतम के
यह जगती बतलाती है,
उन पर अबोध मति चल कर
भ्रम-तम में खो जाती है।

वह कभी हृदय के भीतर
ही गाने लगता गाने,
फिर भी यह हृदय भटकता
है उसके दर्शन पाने।

वह क्या है इसका जग को
अब तक कुछ ज्ञान नहीं है
वह आकर फिर जाता है
उसकी पहचान नहीं है।

वह रूप बना भिक्षुक का
है भीख माँगने आता,
दे भेंट गालियों की जग
है घर से उसे भगाता।

वह रूप कोढ़ियों का रख
पथ पर है 'आहें' भरता,
पर जगत दंभ के कारण
उस ओर न आँखें करता।

मुझको भी धोखा देता
है क्यों अमरों का स्वामी
क्यों 'रूप' नहीं दिखलाता
जीवन-धन, अंतर्यामी।

यह 'द्वैत-भाव का पर्दा,
पहुँचाता मुझको पीड़ा,
दोनों का जीवन मिलकर
अब करे एक में क्रीड़ा।

इच्छा होती है तोड़ूँ
अब 'तू मैं' की दीवारें
द्रुत तोड़ द्वैत के गिरि को
मिल जावें दोनों धारें।

यह 'तरणी' भी बंधन है,
'पतवार' भुलावा प्यारा,
इन लकड़ी के टुकड़ों से
मिल सकता कहीं किनारा!

जप, तप, पूजन, व्रत, साधन,
दिखता सब अभिनय भ्रम का।
समझा न रूप प्रियतम का,
कब पर्दा हटता तम का!

मैं किन आखों से देखूँ
अपनी आँखों का 'तारा'!
आलोकित मेरे उर का
अब प्रिय करदे उजियारा।

क्यों अंधकार मे केवल
मैं गिनूं गगन के तारे।
ये अस्थिर जगमग दीपक
भ्रम की छाया है सारे।

'तरणी' को छोड़ यहीं पर
मैं लहरूँगी लहरी बन
नभ में बन पवन बहूँगी
मैं तोड़ जगत के बंधन।

इस तन के कारागृह का
यह कोट गिरा मैं दूँगी
वह गले लगा लेगा, जब
मैं 'अपनापन' भूलूगी।

यह एक 'बूद' जब अपना
'अस्तित्व' मिटा डालेगी,
तब महासिंधु में मिलकर
लहरों मे लहरावेगी।

जग जिसको दीप समझता
वह केवल भ्रम की छाया,
ऐश्वर्य्य प्राप्त करने की
धुन में अमरत्व गँवाया।

मैं छोड़ जगत की माया
इतने आगे बढ़ आई,
उसका अनुराग हृदय में
चमका वह दिया दिखाई।

मैं भूल न जाऊँ उसको
जग आँखों से हट जाए,
उसका ही 'प्रेम' निरंतर
यह 'जीवन-तरी' चलाए।

मैं अपनी अभिलाषाएँ
करती हूं उसे समर्पित।
सौंपे देती हूं सुख-दुख
सब पाप-पुण्य चिर-अर्जित।

'तम का पर्दा' आँखों पर
बादल-सा सघन पड़ा है,
रत्नों से जड़ा उसी के
पीछे वह महल खड़ा है।

उज्ज्वल शशि-से आनन पर
मेघों-सा घूंघट डाले,
छिप रहता है, रखता है
वह छिपा अमृत के प्याले।

मुसकान इंद्रधनु-सी मृदु
मत-रंगी जलद-पटल पर,
आभास मनोहर छवि का
देती रहती, चिर-सुंदर !

काले-काले बादल-दल
करते जग में अँधियारा,
वह बरसाता उनसे भी
शुचि स्नेह-सलिल की धारा

घूँघट-पट भी प्रियतम का
लगता है कितना प्यारा ?
हो मुग्ध मोर-सा नर्तन
कर उठता है जग सारा।

जो भीम-भयंकर स्वर में
करता है गर्जन तर्जन,
उससे भी चातक-सा मन
पा जाता स्नेह-स्वाति-कण।

मेरे आकुल प्राणों को
उसने जो बूंद पिलाई—
वह निर्मल मोती बन कर
आँखों में आज समाई।

इन वाह्य चक्षुओं में तो
जल-प्लावन सा है आया,
खुल गये नयन अंतर के
अब उसने रूप दिखाया।

बुझ गये सूर्य, शशि, तारे,
हट गये सिंधु, भू, अंबर।
रुक गई यहीं पर नौका
मिट गया यहीं पर अंतर।

युग-युग से जो 'तरणी' ले
मैं उसे खोजने आती।
मिल गई उसी में उसकी
प्रिय मूर्ति मधुर मुसकाती।

जीवन का जीवन बन कर
वह साँस साँस की बन कर,
है साथ—साथ ही रहता—
चितवन की चितवन बन कर।

अपना ही पथ तो मुझको
बन गया अनंत अगम था।
मैं समझ नहीं पाई थी
मुझ में मेरा प्रियतम था।